THE TIMES OF INDIA

Date:08-07-22

Don't Be A Boris

Leadership change in UK is geopolitically not significant. But it's a lesson in political morals

TOI Editorials

He weathered one scandal after another with Britain tuning in to watch every new episode, until finally his own party had had enough of all the rowdy theatre. It started with the resignations of senior cabinet ministers, then gathered swift momentum, pushing Boris Johnson to resign as the leader of the Conservatives yesterday. In due course his party will choose a successor, the transition of office will probably be full of drama, and on big issues the country can expect policy continuity. But given that Britain doesn't move the world's geopolitical needle, a leadership change there is interesting, but not terribly consequential.

The interesting thing is a morality tale that has lessons for other democracies: How a leader who as recently as in December 2019 led his party to a landslide parliamentary majority, its biggest since 1987, squandered so much political capital so fast. The whiff of entitled elitism that in part helped usher him into office, began to smell bad. What the messy hair had wooed, Downing Street shambolisms repulsed. It bears underlining that as scandals tumbled out of the PM's office with farcical regularity, elsewhere in Britain the cost-of-living crisis is as painful as among its erstwhile EU allies. Yes, Johnson did get Brexit done, but incomes aren't up and Britain isn't stronger.

The lesson here is that even leaders with massive mandates need to be mindful of the fact that the office needs to command at least a measure of respect and authority. And that political parties must respond faster when they sense their leader is proving to be a liability. Johnson's exit is no big deal for the world. But it is a reminder to the world's elected leaders never to take the governed for granted.

दैनिक भास्कर

Date:08-07-22

ऐसी अनुकरणीय नैतिकता को प्रतिमान बनाएं

संपादकीय

बिहार यूनिवर्सिटी के एक कॉलेज में एक स्थाई लेक्चरर ने तीन साल की सेवा में मिले वेतन के कुल करीब 24 लाख रु. यूनिवर्सिटी को लौटा दिए। पैसे लौटाते हुए उन्होंने कहा कि 'इस काल में उन्हें कोई क्लास या छात्र पढ़ाने को नहीं मिले। मेरा विवेक बगैर काम के वेतन लेना मंजूर नहीं करता लिहाजा मैंने यह कदम उठाया'। यह सत्य उन करोड़ों लोगों के लिए एक सुधारात्मक संदेश है, जो सरकारी पदों पर आने के बाद काम करना बंद कर देते हैं या करते हैं तो केवल घूस लेकर। इस राज्य में औचक जांच में अक्सर रेगुलर टीचर की जगह वर्षों से 'एवजी टीचर' पढ़ाते हुए पाए गए। ये एवजी टीचर पढ़े-लिखे बेरोजगार युवा होते हैं, जिन्हें रेगुलर टीचर अपनी तनख्वाह का छोटा-सा अंश देकर पढ़ाने के लिए रखते हैं और खुद बिजनेस से कमाई में व्यस्त रहते हैं। छात्रों के क्लास में न आने का मुद्दा कॉलेज प्रबंधन और प्रिंसिपल को कठघरे में खड़ा करता है। इस असिस्टेंट प्रोफेसर ने जेएनयू से मास्टर्स और डीयू से पीएचडी की है। इस अनुकरणीय कदम को एक आइकन बनाकर समाज में मूल्यों को फिर से स्थापित करने की जरूरत है। दरअसल बाजारीकरण के इस दौर में हमारा प्रतिमान वह युवा नहीं बनता, जो पढ़कर उच्च कोटि का वैज्ञानिक शोध करता है, बल्कि वह बनता है जिसके बयान समाज में विभेद और उन्माद पैदा करते हैं।

Date:08-07-22

भारतीय मतदाताओं के लिए दलबदल मायने नहीं रखता

संजय कुमार, (प्रोफेसर व राजनीतिक टिप्पणीकार)

भारत में चुनाव पार्टी-आधारित होते हैं और एक बड़ी संख्या में वोटर उम्मीदवार के बजाय उसकी पार्टी को वोट देते हैं। यही कारण है कि विधायकों और सांसदों के दलबदल का उन पर ज्यादा असर नहीं पड़ता। क्योंकि अगर सच में ही उन्हें इससे फर्क पड़ता तो अनेक दलबदलू नेता दोबारा कभी चुनकर संसद या विधानसभा में नहीं आ पाते। दलबदल विरोधी कानून तो 1984 में ही चंद संशोधनों के साथ लागू कर दिया गया था, लेकिन इससे भारतीय राजनीति में निहित इस समस्या का समाधान नहीं खोजा जा सका है। यह जरूर है कि इससे दलबदल की घटनाएं पहले से कम हो गई हैं। कुछ अवसरों पर तो किसी निर्वाचित विधायक या सांसद के पास एक पार्टी छोड़कर दूसरी में जाने के जायज कारण होते हैं। लेकिन अधिकतर अवसरों पर इसके पीछे विचारधारा को ताक पर रखकर व्यक्तिगत हितसाधन की वृत्ति ही दिखलाई देती है। ऐसा बार-बार होता रहता है, क्योंकि नेताओं को पता है कि इसके लिए वोटर उनसे नाराज नहीं होंगे। अगर वे एक

पार्टी छोड़कर दूसरी लोकप्रिय पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़ते हैं तो वोटर उन्हें फिर वोट देंगे। हां, वो इतना जरूर खयाल रखते हैं कि वे लोगों की पहुंच में रहें और उनका काम करते रहें। जब कोई मतदाता पार्टी के बजाय किसी उम्मीदवार को वोट देते हैं तो उसके मूल में उसके द्वारा किए गए उपयोगी कार्य ही होते हैं। एक कार्यक्षम जनप्रतिनिधि उसकी विचारधारा से हमेशा बड़ा माना जाता है।

2014 के आम चुनावों में लोकनीति-सीएसडीएस के द्वारा कराई गई नेशनल इलेक्शंस स्टडीज में पाया गया था कि 58 प्रतिशत मतदाताओं ने माना वे पार्टी को वोट देते हैं, वहीं 33 प्रतिशत ने कहा कि वे उम्मीदवार के नाम पर ठप्पा लगाते हैं। 2019 में ये आंकड़े बदलकर क्रमश: 52 और 37 प्रतिशत हो गए। यानी हाल के सालों में उम्मीदवार के नाम पर वोट देने की प्रवृत्ति भले बढ़ी हो, लेकिन अनेक वर्षों से लोकसभा और विधानसभा चुनावों में बहुसंख्य मतदाताओं द्वारा चुनाव चिह्न पर ही वोट दिया जा रहा है। पार्टी-आधारित वोटिंग का यह पैटर्न शिक्षित और अशिक्षित, शहरी और ग्रामीण वोटरों में समान है। इससे अगर मतदाताओं में इस बात को लेकर गुस्सा रहता भी है कि नेता ने पार्टी बदल ली तो पार्टी-आधारित वोटिंग के ट्रेंड से वह बेअसर हो जाता है।

मध्यप्रदेश में कमलनाथ सरकार के 22 निर्वाचित विधायक कांग्रेस से भाजपा में चले गए थे, जिनमें से 19 भाजपा के टिकट पर फिर चुनाव जीतने में सफल रहे। या महेश इरानागौड़ा कुमथल्ली का उदाहरण लीजिए। वे 2018 में कर्नाटक की अठानी सीट से कांग्रेस के टिकट पर विधायक बने, फिर पार्टी बदलकर भाजपा में चले गए, और उसके टिकट पर पुन: चुनकर सदन में चले आए। पश्चिम बंगाल में टीएमसी से भाजपा में आकर भी चुनाव जीतने वाले सुवेंदु अधिकारी को हम कैसे भुला सकते हैं? उन्होंने तो नंदीग्राम सीट से मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को ही हरा दिया था। इस तरह के नेताओं की सूची भी लम्बी है, जिन्होंने दल बदलकर भी दूसरी पार्टी में अच्छा पद पाया। जैसे विश्वजीत राणे का ही उदाहरण ले लीजिए। 16 मार्च 2017 को उन्होंने गोवा में कांग्रेस विधायक के पद से इस्तीफा दिया। वे कांग्रेस सरकार में मंत्री भी थे। 7 अप्रैल को उन्होंने भाजपा ज्वॉइन की और परिकर सरकार में भी मंत्रिपद पा गए। अलबत्ता 2022 में गोवा में हुए चुनावों में एक उलटा ट्रेंड देखने को मिला और 12 दलबदलुओं में से 9 को हार का सामना करना पड़ा। लेकिन गोवा एक अपवाद इसलिए है, क्योंकि वहां वोटर परम्परागत रूप से उम्मीदवार को देखकर वोट देते रहे हैं।

हम मौसम का पूर्वानुमान तो लगा सकते हैं, लेकिन इसका नहीं कि कब और कौन-सा नेता दल बदल लेगा। यह कोई नई परिपाटी नहीं, यह भारतीय राजनीति में अरसे से हो रहा है। वोटर भी अब इसे बुराई नहीं मानकर रूटीन की बात समझने लगे हैं। इस पर अंकुश लगाने के जतन समय-समय पर किए गए हैं, लेकिन नेतागण इससे बचने का कोई न कोई उपाय ढूंढ ही लेते हैं। दलबदल विरोधी कानून सबसे पहले 1967 में इंदिरा गांधी द्वारा प्रस्तुत किया गया था, लेकिन 1984 में जाकर राजीव गांधी द्वारा अपनाया जा सका। 2003 में अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने इसमें महत्वपूर्ण संशोधन किए। फिर भी वांछित परिणाम नहीं मिल सके हैं। महाराष्ट्र में हुआ ड्रामा तो एक लम्बी परिपाटी का नया अध्याय भर है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:08-07-22

चिंतित करता मध्यवर्ग का सिकुड़ता दायरा

अजित बालकृष्णन, (लेखक इंटरनेट उद्यमी हैं)

मैं डॉक्टरों के परिवार से हूं। मेरे दादा जी और पिता जी डॉक्टर थे। मेरी खुद योग्यता आधारित शिक्षण तंत्र में गहन आस्था है। ये सभी पहलू मुझे एक खांटी मध्य वर्ग की श्रेणी में रखते हैं और इस वर्ग का हिस्सा होने के नाते मुझे तब बहुत बेचैनी होने लगती है, जब मुझे भारत के साथ-साथ अमेरिकी और यूरोपीय मीडिया में ऐसी सुर्खियां पढ़ने को मिलती हैं कि दुनिया में मध्यम वर्ग के आकार में नाटकीय रूप से कमी आ रही है।

एक प्रतिष्ठित अमेरिकी थिंक टैंक प्यू रिसर्च सेंटर का कहना है, 'आर्थिक सुस्ती के परिणामस्वरूप वर्ष 2020 में भारत में मध्य वर्ग के आकार में 3.2 करोड़ की कटौती का अनुमान है।' जर्नल ऑफ इकनॉमिक इशूज की एक अन्य रपट के अनुसार, 'यूरोप के 26 में से 18 देशों में मध्य वर्ग का आकार घटा है।' वहीं बिजनेसइनसाइडर.कॉम की रपट में कहा गया है, 'वर्ष 2000 के दौरान अमेरिका में मध्य वर्ग की 7.2 करोड़ नौकरियां उपलब्ध थीं, जो अब केवल 6.5 करोड़ रह गई हैं।' ये रुझान यही संकेत करते हैं कि मध्यम-वर्गीय नौकरियों में आ रही कमी के चलते ही मध्यम वर्ग का दायरा सिकुड़ रहा है।

यदि दुनिया भर में मध्यम-वर्गीय नौकरियों में कमी आ रही है तो क्या दुनिया में कहीं कोई ऐसी औद्योगिक क्रांति भी हो रही है, जैसी 18वीं शताब्दी में हुई थी, जब बुनाई और कताई मशीनों की दस्तक ने इंगलैंड से लेकर यूरोप और भारत तक हथकरघे पर काम करने वाले लोगों के रोजगार छीन लिए थे।

इसकी गहन पड़ताल से पहले यह विचार करने योग्य है कि यदि किसी देश में मध्यम-वर्ग का आकार घटता है तो उस देश को इसका क्या खमियाजा भुगतना पड़ सकता है? अरस्तू के समय से ही तमाम विद्वान यह मानते आए हैं कि जो समाज सशक्त मध्यम वर्ग द्वारा संचालित-प्रशासित होते हैं, वे धनी या बेहद गरीब लोगों द्वारा प्रशासित समाजों से बेहतर प्रतीत होते हैं। मध्यम वर्ग एक ऐसा स्तंभ है जो सामाजिक समरसता और आर्थिक प्रदर्शन को ठोस आधार प्रदान करता है।

भारत के मामले में ही देख लीजिए कि जिन नेताओं ने भारी त्याग कर आधुनिक भारत के निर्माण में योगदान दिया, वे मुख्य रूप से मध्यम वर्ग से ही थे। इनमें गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, अरविंद घोष, जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, वल्लभभाई पटेल और मौलाना आजाद जैसे तमाम नाम शामिल हैं। ऐसे में बड़ा प्रश्न यही है कि अगर इस समय देश में मध्यम वर्ग का आकार सिकुड़ रहा है तो भविष्य में हम किस प्रकार के नेताओं की अपेक्षा कर सकते हैं?

यह मुद्दा स्पष्ट रूप से इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि विकिपीडिया ने इसके लिए 'मिडल-क्लास स्क्वीज (मध्यम-वर्गीय सिकुड़न)' नाम से एक नया खंड ही बना दिया है। यह मध्यम वर्ग को, 'बेहतर वेतन के साथ एक भरोसेमंद-टिकाऊ नौकरी, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच, सुरक्षित एवं स्थायी आवास, अपने बच्चों को बेहतर शिक्षा उपलब्ध कराने की

व्यवस्था, जिसमें उच्च शिक्षा भी शामिल है, सैर-सपाटे और जीवन के कुछ बड़े अवसरों पर अवकाश का प्रावधान और गरिमापूर्ण तरीके से सेवानिवृत्ति' जैसे पहलुओं के आधार पर परिभाषित करता है। यह काफी आश्वस्त करने वाला है।

....परंतु, फिर कुछ बड़े झटकों की बारी आती है। यह भारत से फोर्ड मोटर्स, जनरल मोटर्स और हार्ली डेविडसन के बाहर निकलने का उल्लेख करता है कि कई वर्षों के घाटे के कारण इन दिग्गजों को यह फैसला करना पड़ा, क्योंकि यहां पर्याप्त क्रय शक्ति वाले मध्यम वर्ग का अभाव था।

कुछ और चिंताजनक रुझान भी हैं, जो भारतीय मध्य वर्ग की संरचना को लेकर हमारी सामान्य समझ को हिला देते हैं। अपने हालिया फैसले में एक भारतीय अदालत ने सॉफ्टवेयर इंजीनियरों को 'लेबर' यानी मजदूर की श्रेणी में रखा और कहा कि हमारे औद्योगिक कानूनों में मजदूरों के संरक्षण से जुड़े प्रावधान उन पर भी लागू होने चाहिए। फिर 'गिग' अर्थव्यवस्था के सैलाब की बात आती है। क्या आपको वे लोग याद हैं, जो ऑनलाइन शॉपिंग प्लेटफॉर्म्स पर ऑर्डर किए गए आपके सामान को घर तक पहुंचाते हैं? गिग अर्थव्यवस्था का सरोकार उन्हीं लोगों से है। नीति आयोग की एक हालिया रपट के अनुसार ऑनलाइन डिलिवरी में ऐसे करीब 80 लाख लोग जुड़े हैं और अगले दस वर्षों के भीतर यह आंकड़ा 23.5 करोड़ तक पहुंचने के आसार हैं। इन युवाओं को गिग वर्कर्स ही कहा जाता है और विडंबनाओं की विडंबना देखिए कि सबसे बड़े आकार के ऐसे रोजगार अत्याधुनिक उच्च-तकनीकी कॉमर्स वाली कंपनियों द्वारा सृजित किए जा रहे हैं।

तमाम विश्लेषक मानते हैं कि चूंकि भारत की आबादी विशेषकर युवा आबादी पश्चिम और चीन की तुलना में अधिक है तो वर्ष 2025 तक भारत में विश्व के सबसे बड़े मध्यम वर्ग के आकार लेने की संभावनाएं हैं। अर्थशास्त्र में यह भी एक स्थापित तथ्य है कि देशों में भविष्य की आर्थिक वृद्धि युवाओं के उपभोग स्तर से ही गति पकड़ेगी। भारत के मामले में तो यह और भी अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि हमारे सकल घरेलू उत्पाद में 60 प्रतिशत या उससे अधिक हिस्सेदारी निजी उपभोग की है। ऐसे में यक्ष प्रश्न यही है कि ऐसी कौनसी जादुई छड़ी है, जो हमारे सक्षम युवाओं का ऐसा वर्ग तैयार कर पाएगी, जो मकान से लेकर तमाम अन्य प्रकार के सामान की खरीदारी में सक्रिय रहते हुए आर्थिक वृद्धि को गति प्रदान करते रहेंगे?

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग, 2020 से अपने जुड़ाव के दौरान मैंने एक प्रमुख सुझाव की अनुशंसा की और अन्य सदस्यों ने भी उसका व्यापक तौर पर अनुमोदन किया। सुझाव यही था कि हमें स्कूलों में कक्षा आठ के बाद से ही सभी छात्रों को डेटा साइंस की शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि इसी तरह से वे अवसरों को भुना पाएंगे और तब कोई दसवीं पास बच्चा भी उभरती भारतीय अर्थव्यवस्था में रोजगार प्राप्त कर सकता है। मैंने बताया कि यह उभरती डिजिटल अर्थव्यवस्था में इन युवाओं को सहज बनने के लिए तैयार करेगा। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इसे समाहित भी किया गया है। बस हमें इसके उचित क्रियान्वयन की आवश्यकता है, क्योंकि डेटा विज्ञान ही आर्थिक वृद्धि का वास्तविक सारथी बनने वाला है।

इस समय की असल चुनौती यही है कि हमारे नीति निर्माताओं को इसकी तात्कालिकता दिखाई दे। जैसा कि पहली औद्योगिक क्रांति के विषय में मैल्कम थॉमिस उल्लेख करते हैं, 'उस दौर के तमाम दिग्गजों चाहे वह कीट्स, शैली या वर्ड्सवर्थ जैसे कवि हों या फिर स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्री, वे सभी इससे अनभिज्ञ रहे कि उनका दौर आधुनिक विश्व के निर्माण का संक्रमण काल है।' उसके करीब सौ वर्ष बाद अर्थशास्त्री अर्नोल्ड टायनबी ने 'औद्योगिक क्रांति' शब्द गढ़ा था।

जनसत्ता

Date:08-07-22

भुखमरी का दायरा

संपादकीय

इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी कि जिस दौर में दुनिया विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में विकास और प्रयोग की नई ऊंचाइयां छू रही है, उसी में समूचे विश्व में भुखमरी के हालात का सामना करने वाले लोगों की तादाद में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। यों अमूमन हर साल इस मसले पर आने वाली अध्ययन रिपोर्टों में भुखमरी की व्यापकता और जटिलता की व्याख्या की जाती है, मगर यह समझना मुश्किल है कि इसकी जद में सबसे ज्यादा प्रभावित देशों की सरकारें भुखमरी पर काबू पाने के लिए ठोस और नीतिगत कदम क्यों नहीं उठातीं! अब एक बार फिर संयुक्त राष्ट्र की ताजा वैश्विक खाद्य सुरक्षा रिपोर्ट में बताया गया है कि दुनिया में भुखमरी की स्थिति पहले के मुकाबले ज्यादा विकराल हुई है। विश्व की करीब दो अरब तीस करोड़ लोगों को भोजन सामग्री जुटाने के लिए मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र की इस रिपोर्ट के मुताबिक, कोरोना महामारी और उसके बाद रूस-यूक्रेन युद्ध ने हालात को और विकट बनाने में अहम भूमिका निभाई है। संयुक्त राष्ट्र की कई एजंसियों की ओर से संयुक्त रूप से प्रकाशित इस रिपोर्ट में कहा गया है कि दुनिया 2030 तक सभी रूपों में भूख, खाद्य असुरक्षा और कुपोषण को खत्म करने के अपने लक्ष्य से और दूर जा रही है।

हाल के उपलब्ध साक्ष्य बताते हैं कि दुनिया भर में स्वस्थ खुराक का खर्च उठाने में असमर्थ लोगों की संख्या तीन अरब से ज्यादा हो गई। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट में मुख्य कारण के रूप में कोविड-19 महामारी के दौरान उपभोक्ता खाद्य कीमतों में वृद्धि के प्रभाव को बताया गया है। जाहिर है, महामारी का सामना करने के क्रम में जो उपाय अपनाए गए, उनसे विषाणु के प्रसार की रोकथाम में कितनी मदद मिली, इसका आकलन बाकी है, लेकिन इसके व्यावहारिक असर के रूप में अगर लोगों के सामने पेट भरने तक का संकट पैदा हो गया तो इस पर फिर से सोचने की जरूरत है। यह सवाल भी स्वाभाविक है कि जहां अलग-अलग देशों सहित अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इस मसले पर बारीक नजर रखने वाली संस्थाओं सहित बड़ी तादाद में उच्च स्तर के विशेषज्ञ मौजूद हैं, वहां से इसके दूरगामी हल के लिए ठोस नीतियां क्यों तैयार नहीं हो पातीं ! उल्टे यह समस्या लगातार और गंभीर होती गई है और इस मसले पर किसी नई रिपोर्ट पर हैरानी

नहीं होती, मगर इससे इतना जरूर पता चलता है कि विश्वभर में नीतियां बनाने और उन्हें लागू करने को लेकर कोई संतुलित रुख नहीं अपनाया जाता।

दरअसल, सुझाव के समांतर अगर धरती पर मौजूद संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल को लेकर गंभीर प्रयास किए जाएं तो खाद्य असुरक्षा और भुखमरी के हालात से निपटने के रास्ते निकल सकते हैं। लेकिन युद्ध और अन्य बेमानी मामलों पर बेलगाम धन खर्च करने और मौजूद संसाधनों को भी नष्ट किए जाने के बरक्स भुखमरी को लेकर विश्व समुदाय की ओर से इतनी ही गंभीरता नहीं दिखाई जाती, तो इसके पीछे किसका हित है? अभाव से जूझती आबादी को पोषणयुक्त संतुलित भोजन मुहैया कराने को लेकर चिंता जताई जाती है, लेकिन हकीकत यह है कि बहुत सारे लोगों को जीने के लिए न्यूनतम भोजन भी नहीं मिल पा रहा। लंबे समय से क्या यह समस्या स्थिर इसलिए है कि भुखमरी के भुक्तभोगी तबके बेहद गरीब और कमजोर समुदायों के होते हैं, जिनकी परवाह करना सरकारें जरूरी नहीं समझतीं? ऐसा क्यों है कि दुनिया में विज्ञान के आविष्कारों और इसकी प्रगति के नए आयामों के बीच अंतरिक्ष की दुनिया और नए ग्रहों पर जीवन तक बसाने की बातें होती हैं और दूसरी ओर धरती पर ही मौजूद आबादी का पेट भरने के इंतजाम नहीं हो पा रहे !

Date:08-07-22

संकट सत्ता का नहीं, मूल्यों का

शिवेंद्र राणा

सत्ता के लिए सत्य और बहुमत के मध्य का संघर्ष कोई नई बात नहीं है। महाराष्ट्र में सियासी संकट के बीच उद्धव सरकार के त्यागपत्र के बाद नई सरकार के गठन की आजमाइश शुरू हो गई है। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दाखिल कर दल-बदल में शामिल विधायकों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की मांग की गई है। विचारणीय प्रश्न है कि संविधान में दल-बदल निरोधक प्रावधानों के होते हुए भी यह राजनीतिक तोड़-फोड़ रुक क्यों नहीं रही?

आजादी के मात्र दो दशकों के भीतर ही भारतीय राजनीति में सत्ता लोलुपता और अवसरवादी राजनीति का विद्रूप दौर प्रारंभ हो गया और सैद्धांतिक-राजनीतिक मूल्यों की तिलांजलि दी जाने लगी। राजनीतिक दलों द्वारा जनादेश की अनदेखी करते हुए जोड़-तोड़ कर सरकारें बनाई और गिराई जाने लगीं। दल-बदल को प्रश्रय मिला। इस घातक परंपरा तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के क्षरण की संवैधानिक रोकथाम के लिए 1985 में दल-बदल कानून पारित हुआ। इसके तहत संविधान के चार अनुच्छेदों क्रमश: 101, 102, 190 और 191 को संशोधित किया गया तथा दसवीं अनुसूची भी जोड़ी गई।

इस अधिनियम के तहत किसी भी राजनीतिक दल के उस सदस्य को संबंधित सदन की सदस्यता के अयोग्य माना गया है, जो अपने दल की सदस्यता त्याग कर सदन में अपने दल के निर्देशों के विपरीत मत देता या मतदान के समय अनुपस्थित रहता है। निर्दलीय सदस्य के संबंध में, अगर वह निर्वाचित होने के बाद किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण कर लेता है, तो अयोग्य हो जाता है। मनोनीत सदस्य अगर सदस्यता पाने के छह माह बाद किसी दल की सदस्यता ग्रहण कर ले, तो उसे भी अयोग्य माना जाएगा।

दल-बदल के कारण उत्पन्न अयोग्यता संबंधी विवादों पर निर्णय का अधिकार सदन के अध्यक्ष को प्राप्त है। इसके अलावा दसवीं अनुसूची के उपबंधों को प्रभावी बनाने के लिए विनियम निर्माण की शक्ति भी सदन के अध्यक्ष को दी गई है। हालांकि ऐसे नियमों को सदन के समक्ष तीस दिन के लिए रखना आवश्यक है तथा सदन इन नियमों को स्वीकृत-अस्वीकृत या उनमें सुधार कर सकता है। मगर प्रथम दृष्टतया आकर्षक लगने वाली दसवीं अनुसूची के उपबंध आलोचना से परे नहीं हैं। इसके मुख्यत: दो आधार हैं। प्रथमत:, व्यक्तिगत दल-बदल का निषेध करते हुए यह व्यापक आधार पर दलबदल को प्रोत्साहन देता है। द्वितीय, अयोग्यता से दी गई छूट के उपबंधों के कारण इसने सरकारों को अस्थिर करने में सहयोग ही किया है।

इसके अलावा, उक्त अधिनियम के अंतर्गत नामित और निर्दलीय सदस्यों के मध्य किया गया भेद पूर्णत: अतार्किक है। नामित सदस्य किसी दल की सदस्यता ग्रहण कर सकता है, किंतु निर्दलीय सदस्य ऐसा करे तो वह अयोग्य हो जाता है। साथ ही दसवीं अनुसूची के उपबंध किसी सदस्य के दल-बदल और उसकी असहमति के मध्य विभेद को व्यक्त नहीं कर पाते हैं। ये विधायिका के स्वविवेक और विचारों की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करते हैं, जिससे दलीय अनुशासन के नाम पर दल की अधिकारिता को और विस्तार मिलता है।

सदन के अध्यक्ष के निर्णय की शक्ति भी आलोचना से परे नहीं है। पहला तो राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के कारण उसका निर्णय दूषित होने की संभावना बलवती होती है। पिछले कई वर्षों से कई राज्यों की विधानसभाओं में अध्यक्ष द्वारा अपने संबंधित राजनीतिक दल के अनुकूल किए गए निर्णय विवादों के घेरे में रहे। दूसरे, ऐसे मसलों पर निर्णय हेतु अध्यक्ष के पास आवश्यक विधिक ज्ञान और अनुभव की न्यूनता भी हो सकती है।

दल-बदल से उत्पन्न अयोग्यता संबंधी प्रश्नों को शुरू में न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर समझा जाता था। किंतु 'किहोतो-होलोहन बनाम जाचिल्हू' मामले (1993) में सर्वोच्च न्यायालय ने इस उपबंध को इस आधार पर असंवैधानिक घोषित कर दिया कि अध्यक्ष दसवीं अनुसूची के आधार पर अयोग्यता संबंधी किसी प्रश्न पर निर्णय देने के समय एक अयोग्य की तरह कार्य करता है। इसलिए किसी अन्य न्यायिक अधिकरण की तरह उसका भी निर्णय निष्पक्षता, प्रतिकूलता, दुर्भावना आदि के आधार पर न्यायिक समीक्षा की परिधि में आता है। अत: यह उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आता है।

बाद के अनुभव बताते हैं कि उपरोक्त संविधान संशोधन लक्षित संभावनाओं की पूर्ति में असफल रहा। इसमें कई प्रावधानों की आलोचना राजनीतिक दलों, नेताओं ने ही नहीं, बल्कि संवैधानिक समितियों और आयोगों तक ने की। उन्होंने इसमें परिवर्तन की अनुशंसा की। इस संबंध में संविधान समीक्षा आयोग ने कुछ और सुझाव दिए। आयोग का मानना था कि दल-बदल करने वाले जनप्रतिनिधियों को मंत्री जैसे संवैधानिक पद समेत अन्य सार्वजनिक या राजनीतिक लाभ के पद से बर्खास्त किया जाना चाहिए। यह बर्खास्तगी तब तक जारी रहनी चाहिए जब तक कि वर्तमान विधायिका का कार्यकाल पूरा न हो या चुनाव के बाद नई विधायिका का गठन न हो जाए।

उपरोक्त विमर्श और सुझावों के आलोक में इक्यानबेवां संविधान संशोधन अधिनियम (2003) पारित हुआ, जिसके अंतर्गत कुछ मुद्दों पर सुधार का प्रयास किया गया। सामान्यतया दल-बदल करने वाले नेताओं की अभिलाषा केंद्र या राज्य सरकार के अधीन संवैधानिक-सांविधिक पदों के अतिरिक्त राजनीतिक लाभ के पद प्राप्त करने की होती है।

किंतु उक्त संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 75 और अनुच्छेद 164 के अंतर्गत केंद्र या राज्य सरकार के अधीन मंत्रिपरिषद का आकार, सदन के कुल सदस्यों की संख्या का पंद्रह फीसद नियत कर दिया गया। साथ ही संसद या राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन का कोई सदस्य जो दल-बदल के आधार पर अयोग्य घोषित किया गया हो, वह कोई मंत्री पद या राजनीतिक लाभ के पद के अयोग्य माना गया। यानी दल विभाजन के आधार पर अयोग्यों के लिए कोई अन्य संरक्षण प्राप्त नहीं है। इस प्रकार संसदीय परंपरा में पैठी राजनीतिक चरित्रहीनता और अवसरवाद को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया।

हालांकि इसके बावजूद परिणाम उत्साहजनक नहीं रहे। राज्य ही नहीं, केंद्र की सरकार भी अवसारवादी गठबंधनों द्वारा गठित और पतित होती रही। वर्तमान में महाराष्ट्र सरकार का पतन इसका ज्वलंत उदाहरण है। कुछ दिनों पूर्व उपराष्ट्रपति एम. वेंकैया नायडू ने दल-बदल विरोधी कानून की विसंगतियों पर चिंता जाहिर करते हुए इसे और प्रभावी बनाने हेतु इसमें संशोधन की सलाह दी। वर्तमान अवसरवादी राजनीति ने जिस तरह संवैधानिक मूल्यों का क्षरण किया है, उसे देखते हुए दल-बदल के मुद्दे पर गंभीर विमर्श और अविलंब संवैधानिक सुधार जरूरी है।

दल-बदल कानून में कुछ नए प्रावधानों को शामिल करने की जरूरत है। मसलन, दल-बदल पर सदस्यों को अयोग्य ठहराए जाने के मामले में निर्वाचन आयोग की सलाह पर राष्ट्रपति या राज्यपाल का निर्णय अंतिम होना चाहिए। इस संबंध में चुनाव आयोग की भूमिका का भी विस्तार किया जाना चाहिए। दूसरा, राजनीतिक दलों के विप जारी करने के अधिकार को सीमित किया जाना चाहिए। इसे तभी जारी करना चाहिए, जब सरकार सदन में विश्वास मत के खतरे से जूझ रही हो। कानून विशेषज्ञ और भाषाविद फर्डिनांड लासाल लिखते हैं, 'संवैधानिक प्रश्न, सबसे पहले, औचित्य के प्रश्न नहीं, बल्कि सत्ता के प्रश्न हैं। किसी भी देश के वास्तविक संविधान का अस्तित्व देश में मौजूद सत्ता की वास्तविक अवस्थिति में होता है: इसलिए राजनीतिक संविधानों में मूल्य और स्थायित्व तभी आता है, जब वे समाज के भीतर अस्तित्वमान शक्तियों की अवस्थिति को यथार्थ रूप से व्यक्त करते हैं।'

वर्तमान संकट सत्ता का नहीं, बल्कि मूल्यों का है। मूलभूत प्रश्न यह नहीं कि कौन सही है? प्रश्न है कि क्या सही है? सत्ता के लिए मूल्यों की तिलांजलि देने वाले जनप्रतिनिधियों से किसी शुभ की कल्पना बेमानी होगी। ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियों का निषेध ही लोकतंत्र का भविष्य उज्ज्वल बनाएगा।

राष्ट्रीय सहारा

Date:08-07-22

विश्व कूटनीति का केंद्र भारत

प्रो. सतीश कुमार

पिछले दिनों यूक्रेन युद्ध को लेकर अंतराष्ट्रीय जगत में खूब गहमागहमी बनी रही। कई सम्मलेन भी हुए। कई देशों के विदेश मंत्री का आना जाना भी हुआ। ब्रिक्स और जी 7 का वार्षिक सम्मेलन भी सम्पन हुआ। हर देश की निगाहें भारत पर टिकी हुई थी। भारत क्या निर्णय लेता है? क्या भारत की निर्णय पद्धति को बाहरी दबाव में बदला जा सकता है?

यह विचार-विमर्श देश के भीतर और बाहर दोनों जगह था। दरअसल, ऐसा प्रयास भारत की विदेश नीति में पहली बार अंकित हुआ है, इसके पहले भारतीय निर्णय बदले जाते थे और भारत मूकदर्शक बनकर दुनिया की कूटनीति का एक लाचार मोहरा बन जाता था। इसलिए यह समझना ज्यादा जरूरी है कि बाहर और भीतर क्या कुछ बदला, जिसने भारत की साख को दुनिया के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया? बदलाव भीतर से ज्यादा हुआ। उसकी चर्चा ज्यादा जरूरी है। पहला; 8 वर्षो में बिग डाटा के साथ भारत की तस्वीर बदलने लगी। आधार कार्ड और उसके तर्ज पर हर व्यक्ति के जुड़ाव ने देश की सामाजिक और आर्थिक सांचे को बुनियादी तौर पर बदलना शुरू कर दिया। सरकार की विभिन्न योजनाओं के साथ आधार का पंजीकरण न केवल नियमता को बहाल किया बल्कि भ्रष्टाचार को भी समेटने का सफल प्रयास किया। जनधन योजना, उज्जवला और अनेकों प्रयास में बिग डाटा गेम चेंजर बना। दूसरा; भारत का आर्थिक प्रयास 2014 के पहले तक मैक्रो आर्थिक इकाई पर बनती थी, वही मुख्य फोकस होता था।

अर्थात विकेंद्रीकरण की बात केवल किताबों की कहानी बन कर रह जाती थी, वह तरीका बदल गया। माइक्रो सोच इस सरकार की मुख्यधारा बन गई। जगह और समूह को केंद्र में रखकर योजनाएं बनाई जाने लगी। उसका अनुपालन भी उसी रूप में होने लगा। तीसरा; भारत की आर्थिक योजनाओं की मलाई अक्सर इलीट वर्ग समेट लेता था। इलीट वर्ग का निर्माण भी बहुत हद तक भाषा के तर्ज पर बनता था। अंगेरजी पढ़ने और लिखने वाले हर तरह से फायदे में रहते थे। गांव और कस्बे के लोग शेष बचे हुए अंश से संतुष्ट होते थे, लेकिन पिछले 8 साल में यह पद्धति बदल गई। हाशिये पर रहने वाले आगे आने लगे मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ, उनकी आर्थिक व्यवस्था भी मजबूत हुई। चौथा; सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग महज महिला, अनुसूचित जाति और भूमिहीन किसान तबका बुनियादी आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन से मजबूत हुए हैं। चाहे वह डिजिटल आर्थिक परिवर्तन की बात हो या तीन तलाक की चर्चा हो। अंदरूनी आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन ने भारत को मिडिल पावर की श्रृंखला के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। भारत के विभिन्नता में एकता के सिद्धांत को खूब प्रसारित किया गया। अर्थात भारत सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक रूप से अलग अलग है। हमारे नीति-निर्माताओं ने एकता की बात को गौण कर दिया और विभिन्नता की तस्वीर को मजबूत आवरण से मढ़ दिया।

भारत को कई टुकड़ों में बांटने की बात ब्रिटेन के पूर्व प्रधानमंत्री चर्चिल करते थे। अमेरिका और चीन के ेत पत्र भी भारत के विखंडन की कहानी रची और प्रचारित की जाती थी। कभी भी भारत की सरकार ने इन विषमताओं को चुनौती देने का गंभीर अकादमिक प्रयास नहीं किया। नतीजा भारत का स्वरूप टूटे हुए आईना में टुकड़े-टुकड़े में दिखाई देने लगा। इस सरकार ने भारत को एक सांचे में ढालने की कोशिश की। उसका फायदा भी दिखाई देने लगा। इसलिए बाहरी व्यवस्था भी भारतीय दृष्टिकोण से बदलने लगी। इसके कई उदाहरण हैं। पहला, ब्रिक्स का विस्तार चीन अपने नक्शेकदम पर करना चाहता है। जी-20 संगठन से कुछ देशों को ब्रिक्स में शामिल करना चाहता है, जिसमें एक इंडोनेशिया भी है। इंडोनेशिया को लेकर ज्यादा हुज्जत नहीं होगी। क्योंकि भारत के संबंध अच्छे हैं। अफ्रीका के दो महत्त्वपूर्ण देश नाइजीरिया और सेनेगल को शामिल करने की कोशिश चीन करेगा। इनके शामिल होते ही दक्षिण अफ्रीका की अहमियत ढीली पड़ जाएगी। साउथ अफ्रीका की अनुशंसा के बिना इनको खेमे में लेना ब्रिक्स के लिए विघटन का कारण बन सकता है। उसी तरह अर्जेंटीना के संबंध ब्राजील से अच्छे नहीं हैं। उसके अलावा चीन की सूची में कई देशों के नाम हैं।

चीन की पूरी कोशिश एक नये खेमे की व्यूह रचना की है, जो अमेरिकी सांचे में खलल पैदा कर सके। एक मिडिल पावर का नई हुजूम खड़ा करने में सफल हो जो जी-7 और अन्य अमेरिकी निर्देशित संघटन को चुनौती दे सके। दूसरा, ब्रिक्स का आर्थिक आधार अभी भी बहुत कमजोर है, जबकि 5 देशों की कुल आबादी तकरीबन दुनिया की आधी आबादी के नजदीक है, 25 फीसद कुल वैश्विक जीडीपी का हिस्सा है। फिर भी 15 वर्षो में इसकी धार और कुंद हुई है। आर्थिक विकास की राह में भारत, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका पूरी तरह से सुस्त पड़ गए। आपसी व्यापार मुश्किल से 20 फीसद से ज्यादा नहीं है। क्या ऐसे हालत में इस बात की उम्मीद की जा सकती है कि ब्रिक्स यूरोपियन यूनियन या जी-7 की बराबरी कर सके। तीसरा, यूक्रेन युद्ध ने एक नई मुसीबत खड़ी कर दी है। विश्व पुन: दो खंडों में विभाजित दिख रहा है। नये शीत युद्ध का आगाज हो गया है। दरअसल, चीन इस युद्ध को लेकर अपनी चौकड़ी बनाने की कवायद में लगा हुआ है। चूंकि सैनिक रूप से मजबूत रूस आर्थिक रूप से पूरी तरह से कमजोर है, युद्ध ने उसकी स्थिति को और जर्जर बना दिया है, इसलिए चीन रूस को लेकर एक ऐसी टीम बनाना चाहता है जो उसे दुनिया का मठाधीश बनाने का स्वप्न पूरा कर सके। इसके लिए वह अमेरिका से ताइवान पर युद्ध के लिए भी आमादा है।

चौथा, चीन की विस्तारवादी नीति दुनिया के सामने है। श्रीलंका, पाकिस्तान, मलयेशिया, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीकी देश चीन का दंश झेल रहे हैं। चीन ने पिछले कुछ वर्षो में जिस तरीके से विश्व की व्यवस्था को अपने तरीके से संचालित करने की साजिश रची है उससे दुनिया सहमी हुई है। भारत की नई शक्ल उसकी अंदरूनी क्षमता के कारण बनकर तैयार हुई है। इसलिए यह टिकाऊ और मजबूत है। चीन से बचने और एक बेहतर दुनिया का निर्माण भारत के साथ ही बन सकता है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:08-07-22

गलतियां मानने को मजबूर जॉनसन

हर्ष वी पंत, (प्रोफेसर, किंग्स कॉलेज लंदन)

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बोरिस जॉनसन ने हालात के सामने आखिर घुटने टेक दिए। उन्होंने कहा, 'कंजर्वेटिव पार्टी की यह स्पष्ट राय है कि पार्टी का एक नया नेता होना चाहिए और इसलिए एक नया प्रधानमंत्री भी।' जॉनसन की विदाई के समय हम यह सहज याद कर सकते हैं कि कैसे कांड-दर-कांड का सिलसिला चला और जॉनसन ने 2019 के चुनावों में जो राजनीतिक पूंजी अर्जित की थी, वह धीरे-धीरे गायब होती गई। उन्हें जो व्यापक जनादेश मिला था, उसका फायदा वह नहीं उठा पाए, क्योंकि जो अनुशासन उनके प्रशासन में होना चाहिए था, वह कमोबेश नदारद रहा। जिस तेजतर्रार तेवर के साथ जॉनसन ने ब्रेग्जिट अभियान को अपने हाथों में लिया था और उसके बाद 2019 के आम चुनाव में जीत हासिल की थी, उस तेवर को वह बरकरार नहीं रख पाए। इसी वजह से विगत कुछ महीनों से उनकी कंजर्वेटिव पार्टी को लगातार झटके लगते आ रहे थे और नौबत यहां तक आ गई कि अनेक मंत्रियों ने इस्तीफा दे दिया।

जॉनसन के खिलाफ शिकायतों की लंबी सूची है। जब कोरोना की लहर चल रही थी, देश में लॉकडाउन लगा था, तब प्रधानमंत्री के आवास 10 डाउनिंग स्ट्रीट में पार्टी या उत्सव का आयोजन हो रहा था। इसे पार्टीगेट स्कैंडल नाम दिया गया। आरोप लगा, तो शुरू में जॉनसन ने पार्टी के आयोजन से ही इनकार कर दिया, लेकिन बाद में उन्होंने गलती मान ली और जुर्माना भी चुकाया। डिप्टी चीफ ह्वीप पद पर क्रिस पिंचर की नियुक्ति को लेकर भी विवाद हुआ। जॉनसन जानते थे कि पिंचर पर यौनाचार संबंधी आरोप हैं, फिर भी उन्हें नियुक्त किया। आरोप लगने के तुरंत बाद उन्होंने सच नहीं स्वीकारा, पर बाद में कागजों से पता चल गया कि पिंचर के बारे में प्रधानमंत्री को पूरी सूचना थी, प्रधानमंत्री को फिर गलती माननी पड़ी।

खैर, मई में जब उपचुनाव हुए, तो जॉनसन की कंजर्वेटिव पार्टी अपनी पारंपरिक सीटों पर भी हार गई। तब से जॉनसन के खिलाफ अभियान में तेजी आई, कंजर्वेटिव पार्टी के नेता सोचने लगे कि जॉनसन के रहते पार्टी चुनाव नहीं जीत पाएगी। वैसे भी अभी ब्रिटेन में आर्थिक स्थिति खराब चल रही है। यह धारणा भी है कि जॉनसन के नेतृत्व में जो ब्रेग्जिट हुआ, उसकी वजह से पार्टी को खामियाजा भुगतना पड़ रहा है। यह धारणा भी मजबूत हुई कि ब्रिटेन को कुशल नेतृत्व की जरूरत है, जो प्रधानमंत्री नहीं दे पा रहे हैं।

ताजा जनमत सर्वेक्षण यदि आप देखें, तो सत्तारूढ़ कंजर्वेटिव के मुकाबले लेबर पार्टी अभी अच्छा प्रदर्शन कर रही है। जिस लेबर पार्टी की जीतने की संभावना नहीं थी, आज ऐसा लग रहा है कि अगर चुनाव हों, तो वह जीत जाएगी। अत: कंजर्वेटिव चिंतित हो गए हैं। उनकी तमाम चिंताओं को अगर जोड़ें, तो जॉनसन की ईमानदारी पर बात आ जाती है। क्या उन पर विश्वास किया जा सकता है? क्या वह इतने सक्षम नहीं हैं कि सही ढंग से प्रशासन संभाल सकें और मुश्किल समय में देश का नेतृत्व कर सकें? ब्रिटेन की जनता क्या किसी ऐसे व्यक्ति पर भरोसा कर सकती है, जो बार-बार झूठ बोलते पाया जा रहा है? बोरिस जॉनसन ने एक के बाद एक ऐसे अनेक फैसले लिए हैं, जिनसे ऐसा लगता है कि उनकी या तो कुशल प्रशासन में रुचि नहीं है या फिर वह इतने अनुशासित नहीं हैं कि ब्रिटेन का नेतृत्व कर सकें।

जब पिंचर वाला मामला गरमाया, तब जॉनसन की पार्टी पर जो पकड़ थी, वह 24 घंटे में ही खत्म हो गई। वह मजबूर हो गए हैं। कल तक वह कह रहे थे कि मेरे इस्तीफा देने का कोई सवाल नहीं उठता। लोगों ने साल 2019 में मुझे भारी जनादेश दिया है, लेकिन अब यह साफ हो गया है कि उनके पास जनादेश भी नहीं है, कंजर्वेटिव पार्टी का समर्थन भी नहीं है। उनके करीबी भी बोलने लगे थे कि उन्हें सत्ता छोड़ देनी चाहिए।

अब ब्रिटेन की राजनीति में बड़ा बदलाव आने की संभावना है, इसमें लेबर पार्टी का जो उभार आ रहा है, हो सकता है कि उसके नेता चुनाव जीत जाएं। सत्ता स्थानांतरित होती दिख रही है। दो दशक से कंजर्वेटिव ने सत्ता पर कब्जा किया हुआ था, लेकिन अब सत्ता लेबर की ओर जाती दिख रही है। कंजर्वेटिव के अंदर जो विभाजन हैं, वे बढ़ते नजर आ रहे हैं। जॉनसन अगले प्रधानमंत्री के चुने जाने तक प्रधानमंत्री रहना चाहते हैं, लेकिन सवाल है कि क्या उनकी पार्टी उन्हें यह मौका देगी? तय है, आने वाले दिनों में कंजर्वेटिव के बीच विवाद बढ़ेगा।

जॉनसन के जाने का अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर कोई खास असर नहीं पड़ेगा। विदेश नीति को लेकर ब्रिटेन में आम सहमति रहती है। बडे बदलाव की संभावना नहीं है। हां, चूंकि जॉनसन ब्रेग्जिट के नेता थे, इसलिए लेबर पार्टी के सत्ता में आने पर स्थिति बदल सकती है। कई लेबर नेता हैं, जो यह चाहते हैं कि ब्रिटेन फिर यूरोपीय संघ का हिस्सा बन जाए। जॉनसन ने यूरोपीय संघ के खिलाफ बहुत सख्त रुख अपना रखा था, अब उसमें नरमी की संभावना बन रही है। जो बड़े

मुद्दे हैं, चाहे वह अमेरिका के साथ ब्रिटेन का संबंध हो या एशिया-प्रशांत में ब्रिटेन की भूमिका हो या चीन के खिलाफ नीति या हिन्दुस्तान के साथ गर्मजोशी की बात हो, इन पर लोगों की निगाह होगी। जॉनसन प्रशासन को बहुत हद तक भारत समर्थक माना जाता था। इसमें बदलाव की संभावना नहीं दिखती। जो भी सत्ता में आएगा, वह भारत के साथ संबंधों को आगे बढ़ाएगा। एफटीए में भी कोई परेशानी नहीं आएगी।

जहां तक ब्रिटेन की राजनीति में भारतीय मूल के नेताओं की बात है, तो ऋषि सुनक हों या प्रीति पटेल, ये दोनों कंजर्वेटिव पार्टी के स्टार माने जाते हैं। कंजर्वेटिव पार्टी शायद अभी चुनाव नहीं चाहेगी, क्योंकि संभावना है कि वह हार जाए। जो भी नया नेता बनेगा, वह भारतीय मूल के नेताओं को जरूर महत्व देगा। संभव है, अगले मंत्रालय में इतने ज्यादा भारतीय मूल के लोग न हों, जितने अभी हैं, लेकिन गौर करने की बात है कि कंजर्वेटिव पार्टी लंबे समय से भारतीय मूल के लोगों को खुश करने की कोशिशें करती आई है। डेविड कैमरन के समय से ही भारतीय मूल के लोगों को सुविधा मिल रही है, इसमें कोई कमी आने वाले दिनों में नहीं दिखने वाली।